जल, थल और मल
आदमज़ात को आईना दिखाती एक दिलचस्प किताब

अनिल सिंह

किसी किताब का आना एक सामान्य बात हो सकती है, लेकिन उसमें उठाए गए प्रश्न और जताई गई आशंकाएँ यदि पूरी मानव जाति को प्रभावित करने वाले हैं तो फिर यह एक अहम बात है। हमारी शिक्षा जो हमें आने वाले समय के लिए तैयार करती है, उसे ऐसी किताबों पर नज़र रखनी चाहिए और उसके मसलों को विमर्श का हिस्सा बनाना चाहिए। अनिल सिंह ने सोपान जोशी की किताब *जल थल मल* पर चर्चा करते हुए लेखकीय पहलू के साथ ही विषयवस्तु की गम्भीरता को भी रेखांकित किया है। सं.

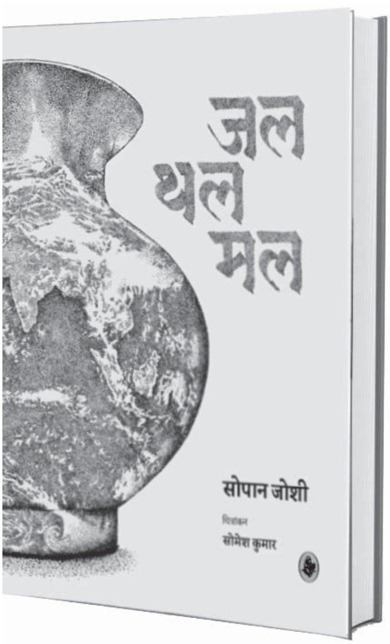

कोई बीस साल बाद एक बार फिर हमें झकझोरने और आईना दिखाने एक अच्छी किताब आई है। बीस साल बाद इसलिए कि 1993 में पहले अनुपम मिश्र की *आज भी खरे हैं तालाब* आयी और फिर 1995 में अनुपम मिश्र की ही *राजस्थान की रजत बूंदें* दोनों किताबें 'गाँधी शांति प्रतिष्ठान' के पर्यावरण कक्ष से प्रकाशित हुईं। दोनों ही किताबों ने जल प्रबन्धन के क्षेत्र में काम करने वालों सहित नीति निर्माताओं और आधुनिक विकास के हिमायतियों को हिलाकर रख दिया था। जल प्रबन्धन और विकास में समुदाय की आपसदारी का अद्‌भुत किस्सा बयाँ किया था इन किताबों ने। अब 2016 में आई *जल थल मल* शीर्षक की यह किताब सोपान जोशी के शोध और आलेख का परिणाम है। जल संग्रह और शुचिता पर काम करने वाली, बेंगलूरु की संस्था 'अर्घ्यम' ने वर्ष 2013 में इस किताब के लिए सोपान जोशी को शोधवृत्ति दी थी। यह किताब भी 'गाँधी शांति प्रतिष्ठान' से प्रकाशित हुई है। किताब की खास बात यह है कि वह *आज भी खरे हैं तालाब* और *राजस्थान की रजत बूँदे* से आगे की, एकदम नई और बहुत दूर तक की बात कहती है।

अब जब पर्यावरण संरक्षण, ग्लोबल वार्मिंग और जल संकट की बहसें अपने चरम पर हैं और राजनयिकों के दायरों से बाहर निकलकर ये आम आदमी के जीवन के प्रश्न बन गए हों, यह किताब एक सम्बल और भरोसा देती है। मैंने तो पूरी किताब एक बैठक में ख़त्म की। आप इसे बीच में छोड़ ही नहीं सकते।

जल और थल अर्थात पानी और मिट्‌टी की बातें तो पहले भी होती रही हैं लेकिन मल की बात इतने विस्तार से, इतने वैज्ञानिक तरीक़े से, और जल, थल के साथ गूँथते हुए इस किताब

के बहाने पहली बार हुई है। हमारे यहाँ मल की बात करने का चलन नहीं है। स्वच्छता पर, हाईजीन पर बात की जाती है, शौचालय पर बात की जाती है मल सिर्फ़ बहाया जाता है।

'केन्द्रीय ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रम' से 'टोटल सैनिटेशन कैंपेन' फिर 'निर्मल भारत अभियान' और अब मौजूदा सरकार के 'स्वच्छ भारत मिशन' का ध्येय भी सतही कचरा सफ़ाई और शौचालय के इस्तेमाल पर ज़ोर देना जान पड़ता है। तीन बिन्दुओं हाथ धोने, साफ़ पानी पीने और शौचालय के इस्तेमाल पर पूरा मिशन केन्द्रित है। शुचिता की बात इस मिशन में सिरे से ही ख़ारिज है, जिसकी बात सोपान जोशी अपनी इस किताब में बड़ी शिद्दत से करते हैं या यूँ कहें कि किताब का यह केन्द्रीय विचार ही बन जाता है।

किताब में बात शुरू होती है धरती पर जीवों की उत्पत्ति के इतिहास के साथ। कोई ढाई अरब साल पहले प्रागैतिहासिक जीवाणुओं के अपने ही उत्सर्जित मल, ऑक्सीजन से होने वाले विनाश को आधार बनाकर, यह किताब आधुनिक मानव सभ्यता के अपने ही मल-मूत्र से नष्ट हो जाने की तर्कपूर्ण आशंका को रेखांकित करती है।

कई बार किताब के शीर्षक या शुरुआत को देखकर यह लग सकता है कि पुस्तक में भटकाव तो निश्चित रुप से होगा। लेकिन जैसे ही आप रुचि लेना शुरू करते हैं। किताब आपको अपने साथ ले लेती है। लेखक के मन में यह बहुत साफ़ है कि कौन-कौन-सी बात करते हुए बात को किस बात तक लेकर जाना है। लेखक की तैयारी बहुत ही दुरुस्त है, विचार बहुत ही स्पष्ट और तरीक़ा एकदम सरल, सहज लेकिन संजीदा। लेखक ने शुरू में ही कह दिया है कि शौचालय का होना या न होना इस किताब के लिखने का उद्देश्य नहीं है, बल्कि पानी, मिट्टी और मल के त्रिआयामी विचारों को जोड़ने का पुल है यह।

लेखक सोपान जोशी लम्बे समय से अँग्रेज़ी में लिखते रहे हैं। लेकिन इस किताब के लिए उन्होंने सुन्दर और सहज हिन्दी का इस्तेमाल किया है। वे मूलतः पत्रकार हैं और शिक्षा, स्वास्थ्य, पर्यावरण और खेती पर लिखते हैं। सोपान जोशी को भाषा के संस्कार हिन्दुस्तान में अपने समय के ख्यातनाम पत्रकार और साहित्यकार पिता प्रभाष जोशी से मिले हैं। जिन्होंने आज़ाद हिंदुस्तान की पत्रकारिता में सम्पादक संस्था के नए और उच्च प्रतिमान स्थापित किए। आज का *जनसत्ता* एक समय उनके नाम से ही पहचाना गया।

सोपान अपनी बात शुरू करते हुए कहते हैं कि जब मनुष्य की आबादी कम थी तब मल-मूत्र चिन्ता का विषय नहीं था। आज हमारी आबादी साढ़े सात अरब होने को आई। इतने लोगों को पालने में तरह-तरह के संसाधन लगते हैं। तमाम संसाधनों का दोहन और उपभोग करते हुए अन्ततः साढ़े सात अरब लोग भोजन पाते हैं– कुछ घण्टों में यह भोजन मल-मूत्र बन जाता है। दुनिया भर में फ़्लश कमोड वाले शौचालयों में बेहिसाब पानी का इस्तेमाल कर सीवर लाइनों से बहाकर इस मल मूत्र को जल स्रोतों में उड़ेल देने की परिपाटी चल पड़ी है। ज़मीन से मिली पैदावार के रूप में ज़मीन के अनमोल उर्वरक ज़मीन में वापस न पहुँच कर हमारी बेवकूफ़ियों के चलते अन्ततः समुद्र में मिल रहे हैं, जहाँ से उनका वापस आना नामुमकिन है। मल-मूत्र के रूप में उर्वरकों के वापस ज़मीन में मिल जाने का शाश्वत चक्र टूट गया है और उसके भयंकर दुष्परिणाम सामने आने लगे हैं।

सोपान इस किताब में बताते हैं कि सभ्यता और विकास की पहचान बन गए फ़्लश कमोड वाले शौचालयों के चलन से जहाँ एक ओर बेहिसाब पीने लायक़ पानी मल को बहाने में ख़र्च हो रहा है, वहीं दूसरी ओर मैले पानी को नदी-तालाबों में छोड़ने से ये जल भण्डार भयंकर रूप से दूषित हो रहे हैं। मल के साथ उर्वरक तो पानी में जा ही रहे हैं, रोगाणुओं की उपस्थिति भी बढ़ रही है। मैले पानी का असर नदी-तालाबों पर साफ़ दिखता है, पर भूजल की ख़राब हो रही हालत नहीं दिखती। कई स्थानों पर भूजल में नाइट्रेट और बैक्टीरिया की मात्रा हद से अधिक पाई गई। तीन-चौथाई वे बैक्टीरिया पाए गए जो हमारे मल में पाए जाते हैं। हैज़ा, कालरा, पीलिया और पेचिश जैसी जानलेवा बीमारियों के महामारी बन जाने की आशंका निराधार नहीं है। भारत की स्थिति पर यूनिसेफ़ की 2013 की रपट, जल प्रदूषण को 'टाइम बम' बताती है।

वह समय दूर नहीं जब स्थितियाँ हमारे नियंत्रण से बाहर हो जाएँ, क्योंकि हम इस तरफ़ से आँखें मूँदे हुए हैं। मल-मूत्र के उर्वरक के रूप में इस्तेमाल की प्रणालियों को पुनर्जीवित करने की बजाय हम बनावटी उर्वरक के निर्माण की होड़ में लगे हैं और हवा से नाइट्रोजन खींच, यूरिया बनाकर वायुमण्डल का शाश्वत सन्तुलन बिगाड़ रहे हैं। एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने इसे पृथ्वी के रासायनिक स्वभाव के साथ हो रहा एक ख़तरनाक प्रयोग बताया है। नाइट्रस ऑक्साइड जैसे ख़तरनाक प्रतिक्रियाशील तत्त्व के बनने की राह बना रहे हैं जो जलवायु परिवर्तन के लिए कार्बन डाइऑक्साइड से कई गुना ज़्यादा ज़िम्मेदार है।

एक और जिस भयानक सच की ओर सोपान इस किताब के माध्यम से संकेत करना चाहते हैं वह यह कि पानी के माध्यम से मल-मूत्र को एक साथ बहाए जाने से विभिन्न रोगाणुओं और एंटीबायोटिक दवाओं की, मैले पानी में अवांछित मुलाक़ात होती है। स्वभावतः रोगाणुओं में बहुत तेज़ी से प्रजनन होता है और वे बहुत ही कम समय में अपनी सन्तति में उन प्रतिरोध क्षमताओं को विकसित कर लेते हैं जो एंटीबायोटिक दवाओं से उन्हें बचाती हैं। इस तरह हम अनजाने ही रोगाणुओं को अपने ख़िलाफ़ तैयार कर रहे होते हैं।

मल-मूत्र के पानी में मिलने से उत्पन्न कीचड़ और गन्दगी का एक और काला सच है सेप्टिक टैंकों और सीवर लाइनों को साफ़ करने का दुस्साध्य काम। जिसके लिए समाज के एक तबक़े को अमानवीय परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। सफ़ाई कर्मचारी आन्दोलन के अनुसार कोई 12 लाख लोग इस मैला साफ़ करने और ढोने के काम में लगे हुए हैं।

प्रकृति का अपना चक्र था जिसमें ज़मीन का उर्वरक फ़सल के रूप में प्राणियों के शरीर में जाकर मल-मूत्र के रूप में फिर वापस ज़मीन में मिल जाता था। आज भी दुनिया में जहाँ कहीं भी मल को पानी में बहाए बिना और मूत्र को अलग रखते हुए खेती में उर्वरक के रूप में इस्तेमाल करने के प्रयोग हुए हैं उनके परिणाम हैरान कर देने वाले हैं ये सिर्फ़ कोई स्लोगन नहीं बल्कि शुचिता का विचार है, प्रकृति के साथ क़दमताल करने का मूल्य है। पर विकास की अन्धी दौड़ और उपभोक्तावादी प्रवृत्ति ने हमें दोहन का ऐसा मार्ग दिखाया है जिसपर चलकर आज हम एटम बम से भी ख़तरनाक हो चली स्थिति के मुहाने पर पहुँच गए हैं।

किताब में सोपान ने इन बातों के सन्दर्भ में नायाब जानकारियाँ जुटाई हैं। वे एक लेखक से ज़्यादा खोजी यात्री जान पड़ते हैं जो सुदूर देशों में घूम-घूम कर दुर्लभ जानकारियाँ एक जगह एकत्र करता है। भले ही ये जानकारियाँ उन्होंने किताब के केन्द्रीय विचार के इर्दगिर्द ताना-बाना बुनने के लिए जुटाई हैं, पर लेखकीय से ज़्यादा यह उनकी वैज्ञानिकता, खोजपरकता और दृष्टि की व्यापकता का गुण दिखाता है।

एक से एक रोचक किस्से इस किताब में भरे पड़े हैं जो मुद्दों को नए सिरे से सोचने-समझने की दृष्टि देते हैं। कैसे लन्दन में टेम्स नदी, मल-मूत्र का ऐसा भयानक भण्डार बन गई कि रानी विक्टोरिया को अपने महल में बन्द होकर रहना पड़ा, पार्लियामेंट का सत्र रद्द कर पार्लियामेंट भवन को अन्यत्र कहीं ले जाने की माँग उठ खड़ी हुई। पेरिस में ऊँची ऐड़ी या हाई हील की चप्पलों का चलन सड़क में पसरे मल-मूत्र वाले कीचड़ से बचने के लिए शुरू हुआ। लद्दाख के सूखे मल भण्डार 'छागरा' का उनकी खेती और सामाजिकता में क्या महत्त्व रहा। जापान ने कैसे मल को पानी में बहाए बिना उर्वरक के रूप में उसके इस्तेमाल की तकनीक और प्रणाली विकसित की। दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में मल-मूत्र के विसर्जन, सीवर प्रणालियों के प्रयोग और उनका विकास, खेती में मित्र जीवाणुओं की खोज, रोगाणुओं की पहचान और उनसे निपटने के साधनों की खोज-पड़ताल, गन्दे पानी को साफ़ कर इस्तेमाल में लेने के सफल-असफल किस्से, जीवाणुओं की यात्रा और प्राणियों की परस्पर निर्भरता से अस्तित्व को बचाए रखने की कवायद जैसे तमाम मुद्दे और किस्से पुख़्ता तथ्यों और विचार के साथ रखे गए हैं।

जल, थल और मल

बात पुराने जमाने की एक विराट क्रांति की है। पर थोड़े ज्यादा पुराने जमाने की, जहां हमारे पंचांग और कैलेंडर तो क्या, हमारी कल्पना भी नहीं जाती है। कोई साढ़े-तीन अरब साल पहले की बात है यानी 3,50,00,00,000 साल। तब पृथ्वी पर केवल एक कोशिका वाले आदि-जीव पनपते थे, जिन्हें अपना भोजन पैदा करना नहीं आता था। धरती की ऊष्मा से रसायनों को खदका कर ये अपना पोषण करते थे। कुछ वैसे ही जैसे आज कुछ बैक्टीरिया दूध जमा कर दही बना लेते हैं या खमीर उठा कर डबलरोटी, सिरका या शराब तैयार कर लेते हैं। 'फरमेंटेशन' या किण्वन से।

उस सरल जीवन के लिए जो कुछ भी जरूरी था, वह या तो धरती से मिल जाता या हवा से। तभी जीवन की लीला में एक क्रांति आई, जिसके नायक थे साएनोबैक्टीरिया, यानी हरे-नीले रंग के बैक्टीरिया। इन्होंने अपनी रसोई खुद बनाना सीख लिया था, सूरज के प्रकाश और हवा से कार्बन की गैस खींच कर। पोषण की आत्मनिर्भरता की इस क्रांति से ये बैक्टीरिया न जाने कितने हजार एकड़ में फैल गए थे, विशाल सौर पटलों के रूप में। आज भी पेड़-पौधे ऐसे ही अपना भोजन बनाते हैं।

जीवन का, प्राण का ईंधन यही था। इस ईंधन को जलाने से कुछ धुआं सा भी निकलता था। एक विषैली गैस निकलती थी। हमारे पूर्वज बैक्टीरिया इस गैस को सांस के रास्ते बाहर निकाल देते थे, ठीक उस तरह जिस तरह हमारे फेफड़े कार्बन डाइऑक्साइड गैस छोड़ते हैं।:

किताब में इतनी सारी जानकारियों को रखते हुए सोपान रोचकता और जिज्ञासा बनाए रखते हैं। वे तथ्यों, तर्कों और चिन्तन को इस तरह समायोजित करते हैं कि वह हमें रोज़मर्रा की बात की तरह लगता है। दुनिया के किसी भी हिस्से का अनुभव अन्तत: मनुष्य का अनुभव है। पानी मिट्टी से हमारे शरीर के जुड़ाव का अनुभव है। हम उससे अपना जुड़ाव ढूँढ़ पाते हैं। उनकी शैली इतनी सहज, प्रभावी और रोचक है कि वह कहीं भी तथ्यों, आँकड़ों या विश्लेषण के भार से बोझिल नहीं होती। एक बात को पकड़कर हम उसमें समाधान की तलाश करते किताब को आगे पढ़ते जाते हैं और सोपान आख़िर में उस बात को समझने की एक अनूठी दृष्टि दे जाते हैं। इस प्रयास में सोपान कहीं रसायनशास्त्री, कहीं जीव वैज्ञानिक, कहीं इतिहासकार, कहीं आर्थिक नीति विश्लेषक, कहीं संस्कृतिकर्मी तो कहीं दार्शनिक हो जाते हैं। और हर भूमिका में वह अपनी पकड़ और पैठ बनाए रखते हैं।

सोपान विभिन्न शोध अध्ययनों और रपटों के हवाले से बताते हैं कि न तो निर्मल भारत अभियान के अन्तर्गत बनाए शौचालयों से संक्रमित बीमारियाँ रुकी हैं और न ही सीवर के मैले पानी को साफ़ करने के कारख़ानों को कोई सफलता मिली है। यह भी साफ़ है कि न तो हम पूरी आबादी को शौचालय दे सकते हैं और न इन शौचालयों में मल बहाने के लिए पानी उपलब्ध करा सकते हैं। नदी किनारे बसे

महानगर, पीने का पानी तो जहाँ कहीं से भी मिल रहा है, लूट रहे हैं पर नदियों में अपना मल-मूत्र ही डाल रहे हैं। हमारे शहर आज अपने जल स्रोत सहेजने की बजाए दूसरों का पानी लूटना चाहते हैं। जल प्रबन्धन की शाश्वत परम्परा वाला देश आज पानी लूटने वाला देश है। शहरी विकास की प्रणाली अब यही है। दूसरी तरफ़ बनावटी उर्वरक के उत्पादन और बेहिसाब इस्तेमाल से पारिस्थितिक तंत्र या इकोसिस्टम के लिए ख़तरा उत्पन्न हो गया है। भूजल को दूषित कर हमने अपनी मौत का सामान जुटा लिया है। पानी के माध्यम से चलकर, रोगाणुओं के हमारे शरीर तक पहुँचने के तमाम रास्ते खुल गए हैं। ज़मीन से गए प्राकृतिक उर्वरक वापस ज़मीन में नहीं आ पा रहे हैं और बनावटी उर्वरक ज़मीन को लगातार ज़हरीला बना रहे हैं।

एक अमेरीकी कृषि वैज्ञानिक फ़्रैंकलिन के हवाले से सोपान एक जगह कहते हैं कि मनुष्य बेशक़ीमती साधनों को कूड़ा बनाने वाला सबसे तेज़ प्राणी है। पता नहीं कितनी शताब्दियों की जीवन लीला से बने उर्वरक, सीवर प्रणाली के रास्ते समुद्र में बहाना ऐसी फिज़ूलख़र्ची है जिसकी क़ीमत दूसरे प्राणी तो चुकाएँगे ही, मनुष्य भी चुकाएगा। सोपान हर जगह हमें चेताते चलते हैं और रोज़मर्रा की अपनी बनी-बनाई परिपाटियों पर नई नज़र से सोचने का रास्ता देते जाते हैं।

किताब में कोई दस खण्ड हैं और हर खण्ड अपने-आप में एक मुकम्मल किताब है। इन खण्डों के शीर्षक अपनी कहानी ख़ुद बयान करते हैं। इनके शीर्षक भी कमाल के हैं,'जल, थल और मल', 'शौचालय से निकले कुछ विचार', 'सफाई के मन्दिर में बलि प्रथा', 'शरीर से नदी की दूरी', 'गोदी में खेलती हैं इसकी हज़ारों नालियाँ', 'मैले पानी का सुनहरा सच', 'पुतले हम माटी के', 'खाद्य सुरक्षा की थल सेना', 'मल का थल विसर्जन', और 'मलदर्शन'। 210 पृष्ठों की इस सुन्दर किताब में आख़िरी के 27 पृष्ठों पर बहुत ही विस्तृत और व्यवस्थित सन्दर्भ विवरण दिया गया है। आमतौर पर किताबों में यह कम ही देखने को मिलता है। सन्दर्भ के बहाने से दी गई अतिरिक्त जानकारियाँ भी कम रोचक नहीं हैं। पूरी किताब में सोमेश कुमार के पेंसिल स्ट्रोक शैली में बने काले सफ़ेद चित्र इस किताब को और भी जीवन्त और गम्भीर बनाते हैं। सोमेश कुमार सृष्टि स्कूल ऑफ आर्ट, डिज़ाइन एंड टेक्नलॉजी बैंगलूरू से ग्रेजुएट हैं और स्वतंत्र रूप से इलस्ट्रेशन के प्रोजेक्ट करते हैं।

अभी हाल ही में, 2018 में इस किताब को राजकमल प्रकाशन ने भी ज्यों-का-त्यों प्रकाशित किया है। इसमें भी 210 पृष्ठ ही हैं। पेपरबैक संस्करण में इसकी कीमत 269 रुपए और हार्ड बाउण्ड की 795 रुपए रखी है। किताब अमेजॉन से ऑनलाइन मँगाई जा सकती है। इसके अलावा अलग-अलग संस्थाओं ने विभिन्न शहरों में इसे अपनी तरह से उपलब्ध करने की कोशिशें भी की हैं।

किताब के अन्त में सोपान अपनी बात कहते हैं कि ऐसा मानना हमारी बहुत भारी भूल होगी कि आज पृथ्वी को बचाने की ज़रूरत है। इस ग्रह पर जीवन हमारे किए-धरे से नहीं आया है, न हमारे मिटाए यह मिट सकेगा। चाहे हम कितनी कोशिश कर लें, चाहे हम जाने-अनजाने कितनी ही जीव प्रजातियों का सफ़ाया कर दें। होगा तो यही कि जीवन का रूप बदल जाएगा। ऐसे जीव उभर आएँगे जिनके लिए हमारा मैला, हमारा कचरा ही संसाधन होंगे। ऐसे कीड़े होंगे जो हमारे बनाए विष से मरेंगे नहीं, ऐसे रोगाणु पनपेंगे जिनपर हमारी बनाई कोई दवा काम

नहीं करेगी। तो मसला पृथ्वी को बचाने का नहीं है। मनुष्य की ज़ात को ख़ुद अपने-आप को बचाना है, अपने-आप ही से।

यह किताब विद्यार्थियों, शिक्षकों, समाजसेवियों और पर्यावरण कार्यकर्ताओं सहित सभी को पढ़नी चाहिए। शोधार्थियों के लिए तो जबर्दस्त सन्दर्भ ग्रन्थ बनेगा यह। बल्कि मेरा तो सुझाव है कि इसके कुछ अध्यायों को पाठ्यपुस्तकों में शामिल भी किया जाना चाहिए। कुछ अध्याय माध्यमिक कक्षाओं की जीव विज्ञान में, कुछ रसायनशास्त्र, कुछ पर्यावरण अध्ययन, कुछ इतिहास, कुछ अर्थशास्त्र, तो कुछ भूगोल की किताबों में लिया जाना शिक्षा में समग्रता की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वपूर्ण होगा। इस किताब का कोई भी हिस्सा भाषा के लिए तो हर तरह से शैक्षिक महत्त्व का है। एक-एक अध्याय जानकारियों के, विमर्श के कई-कई सिरे खोलता है। विषयों के बीच अन्तर्सम्बन्ध का बहुत ही जीवन्त और व्यावहारिक उदाहरण है यह किताब।

अनिल सिंह विगत बीस वर्षों से विभिन्न स्वैच्छिक संस्थाओं के साथ जुड़कर शिक्षा और स्वास्थ्य का काम करते रहे हैं। जनसंचार में स्नातक हैं और पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखते हैं। वर्तमान में आनन्द निकेतन डेमोक्रेटिक स्कूल भोपाल से जुड़कर वैकल्पिक शिक्षा के मॉडल पर काम कर रहे हैं।
सम्पर्क : bihuanandanil@gmail.com

परीक्षा और शिक्षा : एक विचार अनेक पहलू

पत्रिका की संवाद श्रृंखला की यह चौथी परिचर्चा है और विषय है– 'परीक्षा और शिक्षा : एक विचार अनेक पहलू'। यह संवाद भोपाल, मध्यप्रदेश में आयोजित किया गया। संवाद में शासकीय उत्कृष्ट विद्यालय भोपाल के प्राचार्य सुधाकर पाराशर, राज्य शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद, राज्य शिक्षा केन्द्र, भोपाल के व्याख्याता राजेन्द्र असाटी, एकलव्य फ़ाउण्डेशन की सीनियर फ़ेलो रश्मि पालीवाल, शासकीय ज्ञानोदय विद्यालय होशंगाबाद के शिक्षक मुकेश मालवीय एवं माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय भोपाल के रजिस्ट्रार दीपेन्द्र बघेल ने भागीदारी की। संवाद का संचालन रश्मि पालीवाल ने किया है। अनिल सिंह ने संवाद का समन्वय किया है।

परिचर्चा में 'परीक्षा और शिक्षा' विषय के विविध पहलुओं पर बातचीत हुई। विषयवस्तु विस्तृत होने की वजह से इसे दो भागों में प्रकाशित किया गया है। पिछले चौथे अंक में प्रकाशित पहले भाग में परीक्षा को लेकर प्रतिभागियों के निजी अनुभव, और समय के साथ इस पद्धति में आए बदलाव से जुड़े नज़रिये, समाज में बच्चों के प्रति दृष्टिकोण, सरकारी तंत्र में शिक्षकों की स्थिति व सोच और परीक्षा का स्वरूप व वैकल्पिक परिकल्पनाओं से जुड़ी बातचीत की गई थी।

परिचर्चा के भाग-दो में 'परीक्षा और शिक्षा' के मसलों मुख्यतः ओपन बुक परीक्षा, पास-फ़ेल की नीति और प्रयोगधर्मी स्कूलों से जुड़ी बातचीत की गई है।

रश्मि पालीवाल : परीक्षा पद्धति के मुद्दे पर जब हम बात कर रहे हैं तो क्या सुझाव आए हैं, वो देख लेते हैं– एक तो परीक्षा लेने के तरीक़े में सहजता की बात हमने की। दूसरी तरफ़ भाषा की बात हुई कि प्रश्नों की भाषा कैसी हो। यह भी चर्चा हुई कि परीक्षा कोई साल में एक बार होने वाली चीज़ नहीं। यदि लगातार ऐसी पढ़ाई होती रहेगी तो परीक्षा लेना कुछ अलग नहीं लगेगा और सहजता बनी रहेगी। किन चीज़ों का आकलन किया जाना चाहिए, इसपर विस्तार से बात हुई क्योंकि नए जमाने में कौशल और पैमाने बदल गए हैं। इन बदलते हुए कौशलों को हम किस तरह के मूल्य दें और कैसे आकलन की कोशिश करें। इसके अलावा भी क्या कुछ सुझाव हमारे मन में हैं? क्योंकि इवैल्युएशन पर एनसीएफ़ का जो पोज़ीशन पेपर है उसमें लिखा है कि ओपन बुक एक्ज़ाम का काफ़ी महत्त्व है। वो उपयोगी प्रणाली हो सकती है। हमें धीरे-धीरे आगे चलकर उसे अपनाने की कोशिश करनी चाहिए। मैंने पिछले 10 सालों में इस तरफ़ कोई क़दम बढ़ते नहीं देखा। इसके बारे में क्या आप लोग कुछ विचार करना चाहेंगे? क्योंकि ये जो रटना है, किताब से जुड़ जाना है, बँध जाना है, ये सारी बातें इसलिए होती हैं क्योंकि हम क्लोज़ बुक ले रहे हैं। क्या हम इस समस्या के सन्दर्भ में ओपन बुक को एक उदाहरण के रूप में विचारणीय पाते हैं?